

स्वाधीनता आन्दोलन में आदिवासियों की भूमिका और हिन्दी उपन्यास

मनोज कुमार*

जब हम स्वाधीनता आन्दोलन की बात करते हैं तो निश्चित रूप से अंग्रेजों के विरुद्ध लड़ी गयी लड़ाईयों की सीमा तक ही सीमित रहते हैं और 1857 की क्रांति को प्रथम बिन्दू मानकर चर्चा करते हैं, जो आज यह प्रश्नवाचक चिन्ह के घेरे में आ चुका है और जो 1857 के पहले के स्वतंत्रता संग्राम के सन्दर्भ में लड़े गये युद्धों के उजागर होने से ऐसा हुआ है। 1857 के सिपाही विद्रोह के पहले भी अंग्रेजी हुकुमत के खिलाफ विद्रोह हुए थे जो राजा-महाराजाओं ने नहीं बल्कि जनता की एक अनुसूचित जमात ने किया था जिन्हें हम आदिवासी कहते हैं। ये जो विद्रोह हुए थे कोई सत्ता पाने के लिए नहीं हुए थे बल्कि अपनी स्वायत्तशासन की व्यवस्था को कायम रखने के लिए किए गये थे।

अधिकतर इतिहासकारों ने 1857 को ही प्रथम स्वतंत्रता संग्राम की धूरी माना है, उस संग्राम में यहाँ के राजा, रजवाड़ों, नबाबों और सामंतों ने अंग्रेजों को देश से बाहर निकालने का बीड़ा उठाया था। जिसमें देश के विभिन्न राज्यों के साथ-साथ सभी वर्ग का जनता भी उसमें शामिल थी। किन्तु उस काल के इतिहासकारों ने एक बड़े सत्य को इतिहास में दर्ज नहीं किया। वह है इस संग्राम से पहले जो आदिवासियों द्वारा संग्राम लड़े गये थे। यानी स्वतन्त्रता के लड़ाको के साथ भी इतिहासकारों ने पक्षपात किया है।

“भारत में ब्रिटिश साम्राज्यवाद विरोधी अभियान का नियमित प्रारम्भ ई0 सन् 1857 से हुआ, इसे किताबी इतिहासकारों ने मान्यता दे दी है। गैर – सांस्थानिक इतिहासकारों ने भी सन् सत्तावन को देशव्यापी घटनाओं की विधिवत् पड़ताल करके इस काल के जनविरोधी चरित्र को उभारा, परन्तु भारत का आदिवासी समाज जो भारत में अंग्रेजी राज तथा अंग्रेजों द्वारा पोषित जमींदारों, साहूकारों के विरुद्ध ई0 सन् 1781 से ही अनवरत संघर्षरत रहा, उनका मुक्तिकामी संघर्ष अभी भी इतिहास के पृष्ठों पर ‘विद्रोह’ के रूप में ही दर्ज है।”

*शोध-छात्र, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

भारत में स्वयंसेवी संगठनों के जैसे ही बुद्धिजीवियों एवं इतिहासकारों की भी स्थिति रही है। इतिहासकार अपने आश्रयदाताओं के चश्में से ही देखकर इतिहास लेखन का कार्य किया करते थे। ये राजाओं के रानियों, तलवारों, तोपों के पूरे ब्यौरे दर्ज तो किये हैं, लेकिन आदिवासियों के द्वारा किये गये बिद्रोहों के जिक्र तक नहीं किया है। और जिन कुछ घटनाओं का जिक्र भी किया है तो वह भी उथला वर्णन मात्र है। जिनमें प्रमुख 1855 का संथाल विद्रोह ‘हूल’ था। जो 1857 के सिपाही विद्रोह से बड़ा विद्रोह था। जिसे इतिहासकारों ने स्वाधीनता की पहली लड़ाई के रूप में स्वीकार नहीं किया। क्योंकि यह संथाल ‘हूल’ अंग्रेजों के साथ-साथ जमींदारों, महाजनों के खिलाफ था। इस युद्ध में लगभग बीस हजार संथाल आदिवासी शहीद हुए थे। जिसमें अंग्रेज पुलिस-सेना व जमींदारों-महाजनों की सेना ने आदिवासियों के लगभग पचास गांवों को जलाकर राख कर दिये थे। विद्रोह के नायक सिद्धों को भागलपुर में ले जाकर अंग्रेजों द्वारा फासी दे दी गयी थी। और बाकी उनके तीनों भाई- कानू, चोंद, भैरव लड़ते-लड़ते मारे गये थे। इसके ठीक दो साल बाद हुए सिपाही विद्रोह में जो लोग अंग्रेजों के भगाने की बात कर रहे थे वे ही दो साल पहले अंग्रेजों के साथ मिलकर संथालों के विद्रोह को कुचल रहे थे। उस काल के ‘भारत-मित्र’ पत्रिका के संपादक ने लिखा था कि संथालों को इसकी कठोर सजा मिलनी चाहिए। वहीं इतिहासकार बिपिन चन्द्र ने आदिवासी राजनीति को कमजोर व बिकारु लिखा है। किन्तु इनको कौन कमजोर करता है और खरीदता है, इसका जिक्र नहीं किया है। “चाहे विजयी जात कोई हो, पराजित के प्रति एक ही भाव रखती हैं, वह है घृणा। युद्ध में विजय उसे मिलती है जो ज्यादा हिंसक, ज्यादा बर्बर और ज्यादा कुशल प्रशिक्षित हत्यारा होता है। कायनात के सबसे खूबसूरत फूल, इन्सान को जबह करने के लिए जिसके पास ज्यादा बेहतर औजार होते हैं। युद्ध में विजय, सत्य और न्याय की नहीं हुआ करती, जैसा कि किस्सों-कहानियों में हमें बताया जाता है। वे तो विजयी जाति के चारण-भाट, कवि-कथाकार पौराणिक होते हैं जो सत्य और न्याय के किस्से गढ़ते हैं और हम आँखे मूँदकर जिनपर विश्वास करते रहते हैं उनकी लेखनी की ताकत यह प्रमाणित करने में खर्च होती है कि पराजित नस्ल कितनी बेईमान, अन्यायी और अत्याचारी थी। यह सब केवल रक्त सनी भूमि स्त्री, स्वर्ण और सिंहासन से उपजे अपराध बोध को धोने का खोखला प्रयास भर होता है।”²

1855 ई0 के प्रसिद्ध संथाल विद्रोह ‘हूल’ को प्रथम स्वतन्त्रता संग्राम के रूप में माना जा सकता है। जिसमें लगभग 60 हजार लोगों ने भाग लिया था जिनमें

गैर आदिवासी निम्न स्तर के लोग शामिल थे। इस आन्दोलन के अगुआ सीद्धू, कान्हू, चांद व भैरव थे। जिन्होंने 30 जून 1855 ई0 को जनतांत्रिक ढंग से भोगनडीह गाँव से 'हूल' की शुरुआत की। इस सभा में संथालों ने नील की खेती व लगान न देने, अंग्रेजों को देश से भगा देने, महाजनों-जमींदारों को काट देने व दामिने कोह पर अपना राज्य स्थापित करने की शपथ ली थी। लेकिन एक लम्बे संघर्ष के बाद इस विद्रोह को दबा दिया गया। जिसमें कान्हू को 21 दिसम्बर 1855 ई0 को, सीद्धू को 5 फरवरी 1856 को अंग्रेजों ने बन्दी बनाकर फाँसी दे दी। किन्तु इन आन्दोलनों ने अंग्रेजों के शोच में परिवर्तन लाने में सफलता हासिल भी की जिसके तहत संथालों के क्षेत्र दामिन-ई-कोह व अन्य को आम कानूनों व विनियम 1855 के नियमों के प्रभाव से मुक्त कर दिया गया। "सन्ताल आन्दोलन 'हूल' कोई विद्रोह मात्र नहीं था वरन् अपनी अस्मिता, स्वायत्ता और संरुति के लिए वनपुत्रों का मुक्तिगामी संघर्ष था। सन्थालों की यह क्रान्ति अंग्रेजों को भारत से भगाने की प्रथम जनक्रान्ति थी। इस व्यापक जनक्रान्ति में नेतृत्व भले ही सन्थालों ने किया था परन्तु सक्रिय भूमिका समस्त वनवासी जातियों - गोत्रा के साथ-साथ गैर-आदिवासी समाज ने भी निभायी थी।"³

आदिवासियों के सौर्य गाथा में आदिवासी पुरुषों के साथ कदम से कदम मिलाकर महिलाएँ भी चलती थीं। इन आदिवासियों का युद्ध केवल अंग्रेजों से ही नहीं होता रहा है, बल्कि पठानों से भी हुआ है। जब रोहतास के दुर्ग को पठानों ने घेर लिया और सारे पुरुष 'सरना पर्व' के धार्मिक अनुष्ठान के बाद हँडिया पीने और नाचने-गाने से थककर किले के भीतर यत्र-तत्र लुढ़क रहे थे। तब उराँव स्त्रियाँ ही साहस सजोकर किलों की रक्षा की। उराँव सरदारिन सिनगी देई, करइली देई और चम्पू देई ने अपनी टोली गठित करके नेतृत्व सम्भाला। "उराँव स्त्रियों ने माथे पर पगड़ी बाँधी। दुध मुँहे शिशुओं को चादर में लपेटकर पीठ पर बेतरा बाँधा। अब उराँव स्त्रियों की नस-नस कमान बन चुकी थी। उँगली - उँगली की तीर।"⁴

आदिवासी जनसमूह ने भी स्वतन्त्रता के लिए उतना ही संघर्ष किया जितना की अन्य लोगों ने किया। वे भी अंग्रेजों के खिलाफ लड़ रहे थे। अंग्रेजों द्वारा उनपर हो रहे अत्याचार के विरुद्ध लड़ने के लिए आदिवासियों ने जो संगठन तैयार किये थे उनमें उनकी महिलाओं का भी महत्वपूर्ण योगदान रहा है। "खबरदार मौझी। महुआ बोली - 'तुम सब महुआ को नहीं जानते। सुलक से वह प्रेम करती

है, बिल्कुल ठीक है। हम औरतों को तुम नाजुक न समझों। हम पिरेम भी कर सकते हैं तो अपने दुश्मनों के दात भी उखाड़ सकती हैं।"⁵

आदिवासियों के शोषण के विरुद्ध समझौते के नाम पर हजारों वर्षों से धोखा हुआ है। अंग्रेजों ने छल करके आदिवासी दलों को समझौता के लिए बुलाया और उसने उन लोगों की रक्षा करने के लिए अपने मुँह में मिट्टी का टुकड़ा डालकर कसम भी खाई। और बात-चीत हुई। किन्तु अगले दिन मौका पाते ही उसका मंसुबा ही बदला हुआ था। और उनका अपना राजा बैजनाथ अंग्रेजों के साथ खड़ा था। "उसी समय गोली चलने और चीखने-चिल्लाने की आवाज सुनाई दी। सबने खड़े होकर देखा तो वे देखते रहे। सारी गंगामुंडा पहाड़ी, हजारों बंदूकधारी सैनिकों ने घेर ली थी। कई आदिवासी जमीन पर निर्जीव पड़े थे और ग्रेयर जोर से कह रहा था - 'खबरदार, एक ने भी तीर छोड़ा तो सबका कटलेआम करा जूंगा।"⁶

किन्तु सबसे बड़ी बात आदिवासियों की यह रही है कि ये वीर युद्ध भूमि से भागते नहीं हैं। अंतिम योद्धा के साथ लड़ते रहते हैं। एक नेता के मरने के बाद तत्काल दूसरा नेता टुकड़ी की कमान संभालता रहता है। ये राजा महाराज नहीं होते हैं फिर भी नेतृत्व करने की हर व्यक्ति क्षमता रखता है। और इनमें अपने वीर सपूतों के शहीद होने पर आँसू बहाने की परम्परा नहीं होती है। वे इसके द्वारा दिखाए गए रास्ते पर चलने के हिमायती होते हैं। बिरसा मुण्डा आदिवासी समाज का एक क्रान्तिकारी वीर पुरुष रहे हैं, जो आज एक नाम नहीं बल्कि आदिवासियों के लिए एक संस्कार बन चुके हैं। बिरसा आदिवासियों के भगवान हैं। बिरसा मुण्डा के पिता सुगना मुण्डा वह पहला मुण्डा था, जिसने जल, जंगल और जमीन की फिक्र की। उसके बेटा बिरसा ने इस फिक्र को हक में परिणित कर उसको अन्ततः युद्ध में बदल डाला था। अपने अधिकारों के लिए लड़ी जाने वाली लड़ाई उलगुलान ! लड़ी।

" मैं बिरसा जंगल का बेटा

मैं जंगल का दावेदार

मैं पहाड़ - सी काली काया

तन में, मन में शक्ति अपार

है पठार - सी ऊँची छाती

सह सकती है अनगिन वार

जेहल में जो थूका मैंने

लहू नहीं वो अगिनफूल थे
 देह मरी थी मेरी लेकिन
 नहीं मरे थे बीज—मूल रे
 नहीं मरेंगे मेरे वंशज
 मेरा पुश्तैनी अधिकार
 लेगा मुण्डा अपना कब्जा
 चाहे कोई हो सरकार
 सुन ओ पुरखे , सुन ओ आबा
 सुन लो ए बिरसा भगवान
 आज तुम्हारे मुण्डा बच्चे
 माँग रहे हैं उलगुलान
 उलगुलान ! उलगुलान !! उलगुलान !!! “ ”

इसमें कोई सिक नहीं है कि आदिवासियों का स्वाधीनता आन्दोलन में एक बड़ी भूमिका नहीं रही है। इनके ही आन्दोलनों से सीख लेकर बड़े आन्दोलनों की शुरुआत हो सकी है। किन्तु आदिवासी बीर पुरुषों को जो स्थान स्वाधीनता आन्दोलन के इतिहास में मिलना चाहिए वह नहीं मिला। पर अब साहित्यकारों ने उनके इतिहास को बड़े ही सहज रूप से उठा लिया है। “साहित्यकार चीख की उपेक्षा नहीं कर सकता, भले ही वह चीख इतिहास की हो। इतिहास प्रामाणिकता और सत्यापन की बैसाखियों पर निर्भर होता है जबकि साहित्य किसी क्षेत्र—विशेष के जीवन में गहरे धंसी आस्थाओं, विश्वासों, लोक कथाओं, लोक गीतों, दंत कथाओं, लोकोक्तियों, आदि—आदि के रसायन से जनजीवन की स्मृतियों में दर्ज होता है और पीढ़ी—दर—पीढ़ी की संस्कृति से स्पंदित होता रहता है। आदिवासी साहित्य का मामला ऐसा ही है।”⁸

इस तरह हम देखते हैं कि आदिवासी समाज का स्वाधीनता के लिए लड़े जाने वाले युद्धों का एक लम्बा इतिहास रहा है। जिसमें सिद्धू, कॉन्हू, चाँद, भैरव और बिरसा मुण्डा के नेतृत्व में लड़े जाने वाले युद्ध आदिवासी समुदाय की बीरता और साहस का परिचय देता है। जिसके फलस्वरूप आज हर वर्ष 30 जून को इनकी याद में ‘हूल’ दिवस के रूप में मनाया जाता है, और इस दिन आदिवासी समाज अपने शोषण और अत्याचार के खिलाफ सामूहिक लड़ाई लड़ने का संकल्प लेते हैं।

संदर्भ —

1. जो इतिहास में नहीं है— राकेश कुमार सिंह, भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली, पहला संस्करण 2005, पृ0 सं0 7
2. ग्लोबल गाँव के देवता — रणेन्द्र, भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली दूसरा संस्करण 2010, पृ0सं0— 42
3. जो इतिहास में नहीं है — राकेश कुमार सिंह, पृ0 9
4. वही पृ0सं0 28
5. जंगल के फूल — राजेन्द्र अवस्थी, राजपाल एण्ड सन्ज, दिल्ली, संस्करण 1996, पृ0 132
6. वही पृ0सं0 202
7. पठार पर कोहरा — राकेश कुमार सिंह, भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली, दूसरा संस्करण 2005, पृ0सं0 189—190
8. कथा—क्रम, अक्टूबर—दिसम्बर, 2014, अंक 62, संपादक— शैलेन्द्र सागर, पृ0सं0 67